हरी दूब का सपना

(कविता-संग्रह)

हरी दूब का सपना

नन्द भारद्वाज



मेधा बुक्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032



प्रकाशक
मेधा बुक्स
एक्स-11, नवीन शाहदरा
दिल्ली-110 032
✆ 22 32 36 72

मूल्य
100.00

प्रथम संस्करण
सन् 2004

आवरण
शिवकुमार

मुद्रक
अजय प्रिंटर्स
दिल्ली-110 032

HARI DOOB KA SAPNA
poems by
Nand Bhardwaj

ISBN 81-8166-047-1

मुलमुल, चीया, अभिज्ञान
और सोनिया के लिए

रुक्मिणी, जया-राजेश, देवयानी-शिव
और कुन्तल-विशाल के
साहचर्य में—

पहल, नया प्रतिमान, साक्षात्कार, मधुमती, कथन, अपरंच, अभिव्यक्ति, लोकमत समाचार, राजस्थान पत्रिका, अणिमा, कविता, सम्बोधन, समकालीन भारतीय साहित्य, इन्द्रप्रस्थ भारती, नया ज्ञानोदय आदि पत्र-पत्रिकाओं के प्रति आभार, जिनमें इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ पहली बार प्रकाशित हुईं—

अनुक्रम

आग की ग़रज़

नहीं-नहीं
आग बुझ नहीं सकती—
यों ओटी हुई आग भी अगर
बुझने लगी तो क्या होगा?

फूँक मारो—
चूल्हे को और उकेरो,
बहुत बार ऐसा भी होता है कि
चिनगियाँ राख की सलवटों में
अदेखी छूट जाती हैं
और फिर तुम
गाँव-भर में आग माँगती
फिरती हो—

कई बार
माँगी हुई आग
चूल्हे तक पहुँचने से पहले ही
बुझ जाती है!

अभी कुछ पल पहले
तुम्हें जो दो-एक चिनगियाँ दिखीं थीं—
छोड़ क्यों दिया उन्हें? 1

उन्हीं को फूस के बीच
जरा ठीक से रखतीं
और फूँक दी होती....

अक्सर
चूल्हा ओटते
और उकेरते वक्त
तुम कहीं खो जाती हो,
आग जलने से पहले
उसकी आंच को लेकर
उदासीन हो जाती हो,
और तुम्हारी उस मारक उदासी का
मेरे पास कोई जवाब नहीं होता!

पारसाल
हमने जाड़े की वो सनसनाती रातें—
जिनमें उल्लुओं तक ने
खामोशी अख्तियार ली थी—
उसी खलिहान पर
फटी गुदड़ी में लिपटे
आगामी अच्छे दिनों की आस में
बातें करते
हँसते
खिलकते गुजार दी थीं।

न दें दोष
हम किसी कुदरत को
लेकिन उससे क्या?
कोई तो होगा आखिर
हमारी इस बदहाली के गर्भ में!

पड़ोसी रग्घा के सुभाव को
सभी जानते हैं,
उसके चेते में अगर जंच जाए
कि हमारी इस हालत के जिम्मेदार
किसी दिल्ली-आगरे-कलकत्ते या
बंबई में छुपे बैठे हैं—
स्साला गंडासा लेकर
दूरियाँ पैदल नापने का
हौसला रखता है।

मैं दिन को दिन
और रात को रात ही कहूँगा
अलबत्ता ये सुबह का वक्त है
और चूल्हा ठंडा,
कुछ भी पकाने की सोच से पहले
जरूरी है कि चिनगियाँ बटोरी जाएँ—
उन्हें फूस-कचरे के बीच रख
फूँक मारी जाए
आग को जगाया जाए—
यों हाथ झटक देने से
कुछ भी हाथ नहीं लगता,
आग की ग़रज़ तो
आग ही साजती है।

उत्तरादी आँधी

अनायास और एकाएक नहीं आती
यह आवेश में
अरसा पहले
बनने उभरने लगते हैं आसार
हवाएँ थम जाती हैं
क्षितिज की उस रेख पर
सूरज सरककर छुप जाता है
बादलों की ओट,

धीरे-धीरे हिलने
थरथराने लगती हैं
हवा में दरख्तों की पत्तियाँ
बेकाबू रेत भर बढ़ने लगता है
त्वरा का वेग
धूल उड़कर एकमेक कर देती है
धरती और आकाश के विस्तार को—

अपने ठौर-ठिकाने से ही लेती है
उठाव
आँधी समूचे उत्तरार्द्ध में
फैल जाती है सघन आकार में!

जिन्हें अपनी जड़ों पर भरोसा होता है
वही वनस्पतियाँ उसके आने की
अगवानी करती हैं

वे जानती हैं
उस आगमन के बाद का आह्लाद
उसी के लिए सहती हैं
दक्खिणी हवाओं का भीषण ताप
वही तो बाँधेगी उनकी मर्यादा,

आशंकाएँ कहाँ नहीं होतीं
कहाँ नहीं होते अपवाद
जिसे सिर्फ ऊपर का आसरा होता है
वह बहुत जतन करके रखता है
अपने आगोतर का सरंजाम—
सिर्फ इसी से तो नहीं हो जाता
वह नियति का हामी,

असुरक्षित आदमी को
बहुत से आवरण धारण करने होते हैं
अपनी आत्मरक्षा में,
जिसकी उपासना करता है
वह भय से
उसके लिए मात्र भक्ति ही नहीं होती
उसके भाव में,
अंतस में दबी रहती है एक झुँझलाहट
जो बहुत कम उजागर होती है
उसके भाषिक व्यवहार में!

वह जानता है
जब तक नहीं उठेगी आँधी
नहीं बन पाएँगे आसार
पहली बरसात के

सांसत में जीते आदमी को
यह भान नहीं रहता
कि धूल पाँवों के तले रहे
या ऊपर आसमान में
उसे तो सिर्फ
अपनी दीठ को बचाना होता है
कि भटक नहीं जाए
अपने गंतव्य से,

और जब औसरती हैं
टपक-टपक बूँदें
वह एकाएक भाग नहीं जाता
पेड़ों की ओट
देर तक भीगता है
चौमासे की उस पहली बरसात में!

जीवन-चर्या

अभी नया-नया ही आया हूँ
इस गली मोहल्ले में
कम ही लोगों से हो पाई है
दुआ-सलाम,
अक्सर बंद ही तो रहते हैं
घरों के दरवाजे,
उदास चेहरों पर
गुमसुम उतरती शाम—

हिदायत के बावजूद
बच्चे निकल जाते हैं दूर
गली के छोर तक,
उन्हें नहीं लगता कुछ भी नया
और अटपटा—
अनजानेपन का भय
उन्हें नहीं रोक पाता
घर की चौहद्दी में!

पत्नी अक्सर पूछती है :
'कैसा है आस-पड़ोस
शहर की आबो-हवा—
हालात.... ?'

'...............!'
जब हम लौट रहे होते हैं
हाट–बाजार से।

अबोलेपन से उकता कर
वह फिर बतियाने लगती है
अपने आप से—
'कितना महँगा होता जा रहा है
जीने का सामान,
शायद इस बार भी
नहीं जा पाएँगे हम बच्चों के साथ
किसी नई उमंग की ओर।
कह रहा था कोई—
कल फिर रहेगा शहर में बंद
शायद नहीं चलेंगी बसें
किसी भी मार्ग पर....
मैं नहीं भेजूँगी बच्चों को स्कूल
ऐसे माहौल में!'

वह चलते ही में कर लिया करती है
ऐसे ही दैनिक फैसले
ऐसे ही बना लिया करती है
चिन्ता और दुविधा में अपना संतुलन
और तय कर लेती है
आगे का सिलसिला!

सिर्फ मैं ही नहीं जान पाता
इस जीवन-चर्या का सार,
बच्चे खुश हैं
अपनी बदलती दुनिया में,
और वह बनी रहती है
उन्हीं की हँस-खेलियों के पास,
वहीं से वह देख लिया करती है
हर असार में सार की संभावना!

अपना घर

ईट-गारे की पक्की चहार-दीवारी
और लौह-द्वार से बंद
इस कोठी के पिछवाड़े
रहते हुए किराए के कोने में
अक्सर याद आ जाया करता है
रेगिस्तान के गुमनाम हलके में
बरसों पीछे छूट गया वह घर—

घर के खुले अहाते में
बारिश से भीगी रेत को देते हुए
अपना मनचाहा आकार
हम अक्सर बनाया करते थे बचपन में
उस घर के भीतर निरापद अपना घर—
बीच आँगन में खुलते गोल आसरे
आयताकार ओरे, तिकोनी ढलवां साळ
अनाज की कोठी, बुखारी, गायों की गोर
बछड़ों को शीत-ताप और बारिश से
बचाए रखने की पुख्ता ठौर।

जाने क्यों
ऐसा घर बनाते हुए
अक्सर भूल जाया करते थे
घर को घेरकर रखती
वह चहार-दीवारी :

बस्ती का पेड़

बाहर से आने वाले आघात का
उलटकर कोई उत्तर नहीं दे पाता
पेड़
वह चलकर जा नहीं सकता
किसी निरापद जगह की आड़ में

जड़ें डूबी रहती हैं
पृथ्वी की अतल गहराई में
वहीं से पोखता रहता है
वह हर एक टहनी और पत्ती में
जीवन-संचार

ऐसा घेर-घुमेर छायादार पेड़
हजारों-हजार पंछियों का
रैन-बसेरा
पीढ़ियों की पावन कमाई
वह पानीदार पेड़
अब सूख रहा है भीतर ही भीतर
ज़मीन की कोख में,

कुदरत के कई रूप देखे हैं
इस हरियल गाछ ने

कई-कई देखे हैं
छप्पन-छिनवे के नरभक्षी अकाल—
बदहवास बस्ती ने
सूंत ली सिरों तक
कच्ची सुकोमल पत्तियाँ
खुंरच ली तने की सूखी छाल,
उन बुरे दिनों के खिलाफ
पूरी बस्ती के साथ जूझता रहा पेड़
चौपाए आखिरी दम तक आते रहे
इसी की बिखरती छाँह में!

पास की बरसाती नदी में
अक्सर आ जाया करता था उफान
पानी फैल जाया करता था
समूचे ताल में
लोग अपना जीव लेकर दौड़ आते
इसी के आसरे
और वह समेट लेता था
अपने आगोश में
बस्ती की सारी पीड़ाएँ,

समय बदल गया
बदल गए बस्ती के कारोबार
नदी के मार्ग में अब नहीं बहता जल
बहुत संकड़ी और बदबूदार हो उठी हैं
कस्बे की गलियाँ
पुरानी बस्ती को धकेलकर

परे कर दिया गया है नदी के पाट में
और एक नया शहर निकल आया है
इस पुश्तैनी पेड़ के अतराफ,

ऊँचे तिमंजिलों के बीच
अब चारों तरफ से घिर गया है
पेड़
जहाँ तहाँ से काट ली गई हैं
उस फैलती आकांक्षा के
बीच आती शाखाएँ

अखरने-सा लगा है
कुछ भद्र-जनों को
बस्ती के बीच पेड़ का होना—
उनकी नजर में
वे अच्छे लगते हैं सिर्फ उद्यान में।

जब शहर पसरता है
उजड़ जाती हैं पुरानी बस्तियाँ
सिर्फ पेड़ जूझते रहते हैं
अपनी जमीन के लिए
कुछ अरसे तक....

पेड़ आखिर पेड़ है—
वह झेल नहीं पाता
अपनों का ऐसा भितरघात
रोक नहीं पाता उनका बरताव,

नमी का उतरने जाना
जमीन की संधियों में मौन
जड़ों का एक-एक कर
काट लिया जाना--
वह रोक नहीं पाता....

पहले-पहल सूखी थी
कुछ पीली मुरझाई पत्तियाँ
फिर सूख गई पूरी की पूरी डाल
और तब से बदस्तूर जारी है
तने के भीतर से आती हुई
धमनियों का धीरे-धीरे सूखना--

इसी सूखने के खिलाफ
निरंतर लड़ रहा है पेड़!

खेजड़ी

बालू रेत की भीगी तहों में
एक बार जब बन जाते हैं उगने के आसार
वह उठ खड़ी होती है काल के
अंतहीन विस्तार में,

तुम रोपकर देख लो उसे किसी ठाँव
वह साँस के आखिरी सिरे तक
बनी रहेगी सजीव उसी ठौर—
अपनी बेतरतीब-सी जड़ों के सहारे
थाम लेगी मिट्टी की सामर्थ्य
उतरती चली जाएगी परतों में—
संधियों के पार
सूख नहीं जाएगी नमी के शोक में।

मौसम की पहली बारिश के बाद
जैसे उजाड़ में उग आती हैं
किसिम-किसिम की घास, लताएँ
पौध कंटीली झाड़ियाँ
वह अवरोध नहीं बनती किसी आरोह में,

जिन काँटेदार पौधों को
करीने से सजाकर बिठाया जाता है

घरों की सीढ़ियों पर शान से
उनसे कोई अदावत नहीं रखती
वह अपनी दावेदारी के नाम पर—
इत्मीनान से बढ़ती है
उमगती पत्तियों में शान्त अन्तर्लीन।

क्यारियों में सहेजकर उगाई जा सकती है
फूलों की अनगिनत प्रजातियाँ
नुमाइश के नाम पर पनपाए जा सकते हैं
गमलों में भाँति-भाँति के बौने बंदी पेड़
उनसे रंच मात्र भी रश्क नहीं रखती
यह देशी पौध—
उसे पनपने के लिए
नहीं होती सजीले गमलों की दरकार
उसे तो खुले खेत की गोद और
सीमा पर थोड़ी-सी निरापद ठौर
सलामत चाहिए शुरुआत में।

बस इतना-सा सद्‌भाव—
कि अकारण कोई रौंद नहीं डाले
उन उगते दिनों में वह नन्हा आकार
कोई काट डाले निराई के फेर में,

अपनी जमीन से बेदखल
कहीं नहीं पनपेगी इसकी साख
अनचाहे बंधन में बँधकर
नहीं जिएगी खेजड़ी!

पीव बसे परदेस

एक अनचीते हर्ष
और उछाह में तुम इंतजार करती हो
घर की मेड़ी चढ़ चारों ओर

आगे खुलते रास्ते पर
अटकी-सी रहती अबोली दीठ
पहचाने पदचिन्हों की छाप
बनी रहती है मन के मरुस्थल में

अनुराग भरे अंतस में
उमगते अपनापे के गीत
अदेखी कुरजों के नाम
सम्हलाती झीने संदेसे!

हथेलियों रचती मेहँदी
और गेरू-वर्णी आसमान में
सिरजती सलोनी सूरत की सुधियाँ
भीगी पलकों से
हुलराती हिलता पालना!

आँगन के अध-बीच निरखती
चिड़ियों की अठखेलियाँ
नीड़ों में लौटकर आते पंखेरुओं की पाँत

छाजों से उड़ाती काले काग
साँझ की ढलती वेला में खोजती
साहिब की निशानियाँ!

चारों दिशाओं में गहराता गाढ़ा मौन
कलेजे की कोरों में खिलती याद की बिजलियाँ
सोई हुई बस्ती में तुम जागती सारी रात
करवटें लेती धरती की सेज पर!

धीरज की रेतीली सीमाओं पर
उमगते भीगी आस के अंकुर
बरसते मेघों की फुहार
मिल जाती है नेह के छलकते रेलों में।

पर नेह माँगता नीड़
जमीन चाहिए पाँवों के नीचे रहने को
घर में उलटे पड़े हैं खाली ठाँव
बुखारियाँ सूनी—
खुली हैं कुंडियाँ—

जीना दुर्गम और दोजख है भोली नार!
किरची-किरची बिखर जाते हैं
सपनों के घरौंदे :
वो हँसते फूलों की सुनहरी क्यार,
वह गार-माटी की
भीतों का अपनापन,
वह मोतियों-सी महँगी मुस्कान—
अंतस का छलकता उल्लास।
जाओ साजन
परदेस को सिधाओ!

तुम इंतजार करती हो जीवन की इसी ढलान
और आहिस्ता-आहिस्ता
रेत में विलग जाती हैं सारी उम्मीदें!
जिस आस में गुजरती है समूची उम्र
वही अकारथ हो जाती है आँखों के सामने
परदेसों की परिक्रमा का इतना महँगा मोल—
आदमी की कीमत लगती है खुले बाजार में!

यह सच है कि
तेरा पीव बसे परदेस
और पूरी उम्र
तुम जीती हो पीव के संग बिन!

(राजस्थानी से अनूदित)

कामिनी

तुम मेरे होने का आधार
आधी सामर्थ्य
आधी निबलाई
जीवन का आधार सार—

तुम पसरी सुकोमल माटी
खुले ताल में उमगती
कच्ची दूब-सी चौफेर
वृक्षों पर खिलती हरियाली की आब
आसमान की परतों में घिरती
तैरती बादली,
घनी घटाओं के बीच
दमकती दामिनी साकार—
धोरों और चारागाहों पर
धारो-धार बरसता ठंडा नीर
तुम नेह से भरपूर
तलैया बावड़ी

तुम विगतों और गीतों की आधी बात
वह आधे बुलावे से पहले
आ खड़े होने का अचूक अभ्यास

वह जननी की गहरी सलोनी सीख
अग्नि के तप में तपी-सी कंचन कामिनी
उछाव से उठाती अजानी जिन्दगी का बोझ
रेतीले टीलों को उलांघती आर-पार
आई साजन के घर-बार

सम्हाली जीवन की ढीली डोर
हिम्मत बँधाई अजानी राह पर—
अँधेरे में जगाए रखी आस
पोखती रही बिखरते कुल के कायदे

गुजरे बरसों की उलझी पहेली ओट
तुम कहाँ को सिधाई सोरठ-सोहनी
कहाँ अदीठ हो गया तुम्हारा
वह आधा सहकार
क्यों इतनी अनमनी गुमसुम
इस तरुणाई में तीजनी!

क्यों बढ़ता हुआ-सा लग रहा है
पाँव तले की धरती पर अंधिभार
यह मेरे भीतर उतरती धीमी मार—
तुम किन हालात में बन गई असहाय
कर्मठ कामिनी!

धर्म की पोथियाँ कहती हैं
तुम बन गई मंदिर की पूतली
श्रद्धा और भक्ति में
तुम्हारी बुझ गई अन्तर्ज्योति

मालो-पन्नों में छुप गई
तुम्हारे चेहरे की पहचान
ख्यातों में खोजा
मिली अलग-सी ही साख
रीत के गीतों में चर्चित रूठना!

किस दावे पर सहेजूँ तुम्हारी आन
किस बूते पर बचा लूँ उघड़ती आबरू—
मेरी बाहों तक आ पहुँच के उपरान्त
तुम कहाँ अदेखी हो गई,
ओ मानसी!

कहाँ अदृश्य हो गया तुम्हारा
वह आधा सहकार,
तुम्हें खोजता फिरता हूँ
उजाड़ में दिशाहीन उद्भ्रान्त!

यह चारों दिशा में
हलचलों से भरा-पूरा संसार
यह समंदर में हिचकोले खाती
बे-पतवारी नाव,
ये बालू रेत की थाह में
उतरता दुर्गम पंथ—
यह अकाल और आँधियों से
लुटी-पिटी धरती
ये बूँद-बूँद गहराता जुल्मी अँधेरा
ये सांय-सांय करती-सी काली रात
ये आँधी और बग्गूलों से

हथ-भेड़ी करता मैं :

मेरे पाँवों पहुँचती आ
मेरी मानिनी!
अंतस में अंगेज गहरो दाझ—
और गाजा
कि बदल जाए
इस उजाड़ का आगोतर
जीवन का सुरीला बजे साज
सिरजें साँसों में नई जीवारी!

(राजस्थानी से अनूदित)

हरी दूब का सपना

कितने भाव-विभोर होकर पढ़ाया करते थे
मास्टर लज्जाराम—

कितनी आस्था से
डूब जाया करते थे किताबी दृश्यों में
एक अनाम सात्विक बोझ के नीचे
दबा रहता था उनका दैनिक संताप
और मासूम इच्छाओं पर हावी रहती थी
एक आदमकद काली परछाईं—

ब्लैक-बोर्ड पर अटके रहते थे
कुछ टूटे-फूटे शब्द—
धुँधले पड़ते रंगों के बीच
वे अक्सर याद किया करते थे
एक पूरे आकार का सपना!

बच्चे
मुँह बाए ताकते रहते
उनके अस्फुट शब्दों से
बनते आकार
और सहम जाया करते थे
गड्ढों में धँसती आँखों से—

आँखें :
जिनमें भरा रहता था
अनूठा भावावेश
छिटक पड़ते थे
अधूरे आश्वासन
बरबस काँपते होठों से

और ये हँसते-हँसते
बेहद उदास हो जाया करते थे
अनायास
हर बार अधूरा छूट जाया करता था
हरी दूब का सपना!

अपने बच्चे से

डरो नहीं मेरे बच्चे!
सारे सपने डराऊ नहीं होते
न अँधेरे में ही इतना दम
कि तुम्हारी मासूम दुनिया को
तुमसे छुपाकर रख सके!

सवेरा होते ही
फिर ठंडी हवा में तैरने लगेगी
ताजा फूलों की गंध,
फिर आबाद हो उठेंगी गलियाँ
चौक में उभरेगा नन्हे साथियों का शोर
सूरज की पहली किरण के साथ
फिर फूटेंगे खुशी के असंख्य फव्वारे!

तुम्हारी नन्हीं आँखों के सामने घूमता
ये दुनिया का गोल आकार
तुम्हारी इच्छाओं से बहुत छोटा है—

दुनिया को अगर तुमने
एक गेंद की तरह समझा
और खेलना चाहा है
तो इसमें डरने की कोई बात नहीं,

बस इतना भर खयाल रहे—
गेंद की हिफाजत करना
तुम्हारा अपना जिम्मा है!

वक्त कभी ठहरता नहीं है
मेरे बच्चे!
न करता है किसी के लिए इंतजार
वह निरंतर चलता रहता है
हमारी साँस की तरह—
आग, पानी और हवा से
हमारी पहचान कराता हुआ
वह अनायास ही शरीक हो जाता है
हमारी कोमल इच्छाओं में

और फिर रफ्तः रफ्तः
हर मोड़ पर
आगाह करता है आगामी खतरों से—
डरावने सपनों का असली अर्थ बताता है!

यह दुनिया
जैसी और जिस रूप में
हमें जीने को मिली है,
उस पर अफसोस करना बेमानी है—
हमने नहीं बिगाड़ी इसकी शक्ल
न थोपी किसी पर अपनी इच्छाएँ,

जब चारों तरफ से
सुलग रही हो आग,
हालात से निरापद बैठे रहना
यों आसान नहीं है—

उफनती धारा के विपरीत
तैरकर जाना यों उस पार
फकत् दिखावा नहीं है
अच्छे अभ्यास का,
महज तमाशा नहीं है
निकल आना सड़कों पर
सरेआम
और अँधेरगर्दी के खिलाफ
खड़े रहना यों मशालें तान कर!

मैं जानता हूँ :
यह वक्त
तुम्हें उस आग में
झोंक देने का नहीं है
लेकिन उसकी आँच से
बचाए रखना भी
कम-मुश्किल नहीं है काम—
अपनी तमाम कोशिशों के बावजूद
अक्सर झुलस जाया करते हैं
तुम्हारे पाँव
और चीख उठते हो तुम
किसी डराऊ सपने के अधबीच
कच्ची नींद में।

यह सच है मेरे बच्चे!
कि ये आदिम अँधेरा
हमारे काबू से बहुत बाहर है,

बहुत मामूली-सी है इतिहास में
एक पिता के रूप में मेरी पहचान–
बहुत नामालूम-सा है
अपनी कारगुजारी का संसार!

बावजूद इसके
मुझ पर भरोसा रक्खो मेरे बच्चे!
सपनों की इस त्रासद अँधेरी दुनिया में
मैं हर वक्त तुम्हारे साथ होता हूँ!

बच्चे के सवाल

अबूझ और अछूते सवालों में
अनजाने उलझ जाना
बच्चे की आदत होती है,
पहले वह अनुमान नहीं पाता
बला का अंत

और थाह लेने
उतरता चला जाता है
अँधेरी बावड़ी की सीढ़ियाँ!

बच्चे के
उन बेबाक सवालों को
वह कैसे शान्त करे,
जो एकाएक
हलक से बाहर आकर
खड़े हो जाते हैं सामने
और हकीकत से
जद्दोजहद को मजबूर करते हैं :

पापा,
हमें क्यों देखते रहना होता है
अनचाहे किसी की ओर,

क्यों रक्खें किसी से
हमदर्दी की आस—
क्यों खड़े रहना होता है
राजमार्ग के किनारे
बोलें किसी की अनचाही
जय-जयकार
और क्यों कभी
नि:शब्द बैठना पड़ता है
मन की इच्छाएँ मारकर?

कैसी अनचीन्ही दुविधा है
एक तरफ बच्चे की भोली इच्छाएँ—
सयानी शंकाएँ,
अनबूझे कोमल सपने
और उमगती कच्ची नींद,
और दूजी तरफ
यह दारुण परवशता की पीड़!

उसकी आँखों के आगे
घूमती है बच्चे की कोमल इच्छाएँ
और सवालों से जूझता है मन
आखिरकार
थके-हारे पाँव
चल पड़ते हैं यंत्रवत् उसी राह पर
जो एक अन्तहीन जंगल में खो जाती है!

एक घड़ा पानी

आइए—
इस प्राचीन पर्वत-शृंखला के पार
जितनी दूर भी आ सकें आप
रेतीले धोरों में बिखरी एकाकी ढाणियों के बीच
जहाँ ढाणी में एक घड़ा पानी ही
उसकी पूँजी होता है,
सूरज, चाँद और सितारे होते हैं
उजास के आदिम स्रोत—
बिजली सिर्फ बादलों में निवास करती है
और पानी पृथ्वी की अतल गहराइयों में मौन
दुर्लभ देवता।

कोई गिले-शिकवे की बात नहीं है
आने को लोग अक्सर आ जाते हैं
फेरी की तर्ज पर और लौट जाते हैं
उस अजनबी सैलानी की तरह
जो नजारों की खोज में
भटकता फिरता है आखे जहान में!

उन्हें अपने रिसालों
और बेनूर दीवारों की खातिर
कुछ तस्वीरें लेनी होती हैं नई—

कहीं तो होंगे अभयारण्य

जब उलट-पलट गई हो सारी कायनात
हवा के शोर में डूबी घायल चिड़ियों की चहकार
कौन जाने कितने-क पेड़ बच रहे होंगे
कितने-क परिन्दे रहे होंगे सलामत
कितनी झाड़ियाँ
प्रजातियाँ कौन-कौन-सी शेष रह गई होंगी
इस अशान्त बियाबान में।

सूक्ष्म जीव-जंतुओं की नियति को
यदि छोड़ भी दिया जाए उन्हीं के हाल पर,
तब भी अँवेरने-सँवारने को
बहुत कुछ बच गए होंगे
संभावित जीवन के अवशेष
इस तूफान में।

इस सामने दीखते
घायल बरगद की छाँव में
कितने शरणागतों को मिला होगा आसरा
जिसे पुरखों ने बड़े चाव से
उगाया था बस्ती के बीचो-बीच
ऐसे न जाने कितने और दरख्त
उखड़कर बह गए होंगे

समय के टूटते प्रवाह में!

परिन्दे नहीं जानते कि समय
कैसा बरताव करेगा उनके साथ
जब सारे हलके में कहर मचा होगा
वे उड़ते रहेंगे क्षितिज के आर-पार
जहाँ हरे-भरे खेत होंगे—
लहलहाती फसलें होंगी
ढलानों पर दूर-दूर तक पसरी होगी दूब
कहीं तो होंगे अभयारण्य
दुर्लभ पक्षियों के समूह
अचानक उड़ जाने का अनचाहा अहसास
इन रूखे-सूखे दरख्तों की देह में!

बरसों बाद

बरसों बाद
किसी बदले हुए मौसम की
कोख से आती गंध
और अंतस की गहराई में
बजती धीमी दस्तक के बुलावों पर
जब भी खोलता हूँ
अपने भीतर के दरवाजे
खिड़कियाँ रौशनदान—
कोई नहीं होता वहाँ
उत्सुक
अपने ही पीड़ित सन्नाटों के सिवाय,

जाने कब से खड़ा हूँ
एक गुजरती हुई उम्र के किनारे
ठस अन्तहीन अँधेरे की
गिरफ्त में गुमसुम!

बरसों बाद
किन्हीं अधूरे पड़े सपनों की
बिखरी चिन्दियों के बीच
इस बेचैन सितारों से भरी रात के
गूँगे आसमान से उतर कर
कभी तो आओगे मेरी मुक्ति के उल्लास—
समेट लूँगा मैं
तुम्हें अपने बिखरे हुए संसार में!

हर बार

हर बार
शब्द होंठों तक आकर लौट जाते हैं
कितने निर्जीव और अर्थहीन हो उठते हैं
हमारे आपसी संबंध,
एक ठंडा मौन जमने लगता है
हमारी साँसों में
और बेजान-सी लगने लगती हैं
आँखों की पुतलियाँ!

कितनी उदास और
अनमनी हो उठती हो तुम एकाएक
कितनी भाव-शून्य अपने एकान्त में,

हमने जब भी आँगन से बात उठाई
चीजों को टकराकर टूटने से
रोक नहीं पाए।
न तुम अपने खोने का कारण जान सकी
न मैं अपनी नाकामी का आधार!

तुम्हें खुश देखने की ख्वाहिश में
मैं दिन-रात उसी जंगल में जूझता रहा
और तुम घर में ऊबती रही लगातार

गुजरते हुए वक्त के साथ
तुम्हारे सवाल और शिकायतें बढ़ती रहीं
और मैं खोजता रहा हर बार
अपने शब्दों की सामर्थ्य में विश्वास!

खोज ली पृथ्वी

तुम्हारे सपनों में बरसता धारोधार
मैं प्यासी धरती का काला मेघ होता

लौटकर आता
रेतीले टीलों के मंझधार
तुम्हारी जागती इच्छा में सपने आंजता!

अब तो चिन्दी-चिन्दी बिखर गया-सा
हो रहा उल्लास
और मंदी पड़ती जा रही
उस चूड़े की मजीठ
जिसकी रंगत
बरसों खिलती रही
हमारे पोरों में
और इसी जोम में खटते आखी उम्र
हमने आकाश और पाताल के बीच
खोज ली पृथ्वी!

उसकी स्मृतियों में

जिस वक्त मैं यहाँ होता हूँ
तुम्हारी आँख में
कहीं और भी तो जी रहा होता हूँ
किसी की स्मृतियों में शेष
शायद वहीं से आती है मुझमें ऊर्जा
इस थका देने वाली जीवन-यात्रा में
फिर से नया उल्लास

एक सघन आवेग की तरह
आती है वह मेरे उलझे हुए संसार में
और सुगंध की तरह
समा जाती है समय की संधियों में मौन
मुझे राग और रिश्तों के
नए आशय समझाती हुई।

उसकी अगुवाई में तैरते हैं अनगिनत सपने
सुनहरी कल्पनाओं का अटूट एक सिलसिला
वह आती है इस रूखे संसार में
फूलों से लदी घाटियों की स्मृतियों के साथ
और बरसाती नदी की तरह फैल जाती है
समूचे ताल में

उसी की निश्छल हँसी में चमकते हैं
चाँद और सितारे आखी रात
रेतीले धोरों पर उगते सूर्य का आलोक
वह विचरती है रेतीली गठानों पर निरावेग

जब
उमड़ती हुई घटाओं के अंतराल में गूँजता है
लहराते मोरों का एकलगान
मन की उमंग में थिरक उठती है वह
नन्हीं बूँदों की चौताल पर।

उसकी छवियों में उभर आता है
भीगी हुई धरती का उर्वर आवेग
वह आँधी की तरह घुल जाती है
मेह के चौतरफा विस्तार में

मेरी स्मृतियों में
देर तक रहता है उसके होने का अहसास
सहेजकर जीना है
उसकी ऊर्जा को अनवरत।

बारिश के बाद

पहली बारिश के बाद
जब भी हवा कुछ तेज होती है—
आसमान में उमड़ने लगते हैं काले मेघ,
उमंग से सराबोर हो उठती है
धरती की कोख
बदलते मौसम की अगवानी में
उठ खड़ी होती हैं रेतीली बस्तियाँ!

पुरवाई में लहराने लगती हैं
सूखी झाड़ियों की पाँत—
दूर तक छितरे एकाकी रूंख
पंखेरू चहचहाने लगते हैं
जीने के भीतरी सहगान में!

रात भर हुई बारिश के बाद
कितनी सुखद और
निथरी-सी लगती है
सुबह की रौशनी,
आक के हरे पत्तों पर
चमकती बरसात की बूँदें,
हलके में भरे सरोवर-ताल—
माटी देर तक गरमास के
पल सोखती है!

तुम्हारी याद

आज फिर आई तुम्हारी याद
तुम फिर याद में आई--
आकर समा गई चौतरफ
समूचे ताल में!

रात-भर होती रही बारिश
रह-रहकर हुमकता रहा आसमान
तुम्हारे होने का अहसास--
कहीं आस-पास
भीगती रही देहरी आँगन-द्वार
मन तिरता-डूबता रहा
तुम्हारी याद में!

घर तुम्हारी छाँव में

जैसे अपने ही पाँवों की
आवा-जाही से अनजान
यह भीतर तक आता
घर का रास्ता—
किसी के लौटने का
इंतजार करता हो बरसों-बरस!

हमीं ने बनाया था जिसे
अपनी जीवारी और जान की खातिर
उजाड़ में भागते आँखें मींच
हमारे ही नंगे पाँवों ने झेली थी
वह चिलचिलाती धूप—
समय की मार,
अपनों की बेरुखी और बिसराव से
बरसों अनजान रही यह देहरी—
यह अपनापे का बचा हुआ संसार!

आदत की बात नहीं है—
अपने अस्तित्व और
घर की सलामती के लिए :
रोज सवेरे चाहे-अनचाहे
निकलना ही होता है घर से बाहर

अपने हिस्से की मेहनत का सीगा खोजने
अपने ही सरीखे हजारों-लाखों के बीच
हम्माली करते, हाड तोड़ते
अपने को बचाए रखने का जतन करते—
उफनती धाराओं और घाटियों के पार
अनजाने निकल जाते दूर
अपनों की दीठ से
बाँधे रखते अपनी पिराती पीठ पर
छूटी देहरी का दुःख—

यह ख्याल रखते कि संध्या-काल
अँधेरा घिर आने से पहले
लौट जो आना है घर की ओर,
झाड़ते-बुहारते
तमाम तरह के अभावों—
अनहोनियों के बावजूद
थामे जो रहते थे अपनी जान से
कि कोई आंच नहीं आए
बच्चों की नींद और
सपनों में पलते घर-संसार में!

कोई अलग तजुर्बा नहीं है
इस अँधेरी दुनिया से उबर आने का—
बिखरते सपनों और
दरकते-टूटते आकारों में
औचक दब जाने का भय
यों अनायास ही नहीं उग आया था
हमारी आँखों में!

मैं नहीं खोज पाता
इस अबूझ ऊहापोह और
अबोलेपन से निकल आने का निरापद रास्ता,
सिर्फ होना भर काफी होता
जो तुम्हारी आँख में साकार
मैं बना रहता यहीं तुम्हारे पास
इस रेतीली परिधि के भीतर
देहरी के सामने!

अँधेरे से आहत जब भी लौटता हूँ
थोड़े-से उजास, हवा और
सपनों की बची हुई दुनिया में
तुम्हारे प्यार और घर के रास्ते की
निशानदेहियाँ खोजता,
तुम्हारी आँखों में उमड़ते
उलाहनों के बीच अक्सर पाता हूँ—
इतने अकाल बरसों के बाद भी
घर सलामत है तुम्हारी छाँव में।

मैं जो एक दिन

मैं जो एक दिन
तुम्हारी अधखिली मुस्कान पर रीझा,
अपनों की बेहतरी और मान की खातिर
उमड़ती आँखों का आवेग—
मैं रीझा तुम्हारी उजली उड़ान पर
जो बरसों पीछा करती रही—
अपनों के बिखरते संसार का,

तुम्हारी चमकती आँखों में
छलकता वह अपनापन
अपने ही भीतर कहीं
तुम्हारे होने का विस्मय
मैं रीझा तुम्हारी भीतरी चमक
और ऊर्जा के उनवान पर
जैसे कोई चाँद पर मोहित होता है—
कोई चाहता है—
नदी की लहरों को
बाँध लेना बाहों में!

तुम्हारा होना

तुम्हारे संग
बीते समय की स्मृतियों को जीते
कुछ इस तरह बिलमा रहता हूँ अपने आप में
जिस तरह दरख़्त अपने पूरे आकार
और अदीठ जड़ों के सहारे
बना रहता है धरती की कोख में।

जिस तरह बदल जाती है
धरती और आसमान की रंगत
मौसम की पहली बारिश के साथ—
बदलती ऋतुओं के पार
जिस तरह बनी रहती है नमी
तुम्हारी आँख में,

इस घनी आबादी वाले उजाड़ में
लौटकर आती तुम्हारी अनगिनत यादें—

अचरज करता हूँ
तुम्हारा होना
कितना कुछ जीता है मुझ में
इस तरह!

यकीन करोगी

यकीन करोगी—
तुम्हारे साथ एक उम्र जी लेने की
कितनी अनमोल सौगातें रही हैं मेरे पास :

सुनहरी रेत के धोरों पर उगती भोर
लहलहाती फसलों पर रिमझिम बरसता मेह
कुछ नितांत अलग-सी दीखती हरियाली के बिम्ब
बरसाती नदियों की उद्दाम लहरें
और दरख़्तों पर खिलते इतने-इतने फूल.....

कोसों पसरे रेतीले टीबों में
खोए गाँवों की उदास शामें—
सूखे कुएँ के खम्भों पर
प्यासे पंछियों का मौन
अकथ संवाद,
कुलधरा-सी सूनी निर्जन बस्तियाँ
मन की उदासी को गहराते
कुछ ऐसे ही दुर्लभ दरसाव

हर पल धड़कती
फ़कत् एक अभिलाषा :

जीवन के फिर किसी मोड़ पर
तुम्हारी आँख और आगोश में
अपने को विस्मृत कर देने की चाह

और यही कुछ सोचते सहेजते
थके पाँव लौट आता हूँ
बीते बरसों की
धुँधली स्मृतियों के बीच
गो कि कोई शिकवा नहीं है
तुम्हारे मान से—
फ़कत् कुछ उदासियाँ हैं अकेलेपन की।

छोटी-सी जलधार

कोख से अलग
पिंड का अपना भी तो होता है
अस्तित्व,
अपनी अकुलाहट,
चाहकर भी हम नहीं मोड़ सके
उसकी मानस-गंगा का बहाव
और देखते-देखते
वह छोटी-सी जलधार
हमारी पहुँच से
दूरतर होती गई!

एक आत्मीय अनुरोध

कहवाघरों की सर्द बहसों में
अपने को खोने से बेहतर है
घर में बीमार बीवी के पास बैठो,
आईने के सामने खड़े होकर
उलझे बालों को सँवारो—
अपने को आँको,
थके हारे पड़ोसी को लतीफा सुनाओ
बच्चों के साथ साँप-सीढ़ी खेलो—
बेफ़िक्र फिर जीतो चाहे हारो,
कहने का मकसद ये कि
खुद को यों अकारथ मत मारो!

जरूरी नहीं
कि जायका बदलने के लिए
मौसम पर बात की जाए
खंख किताबों पर ही नहीं
चौतरफ
दिलो-दिमाग पर
अपना असर कर चुकी है—

खिड़की के पल्ले खोलो
और ताजा हवा लेते हुए
कोलाहल के बीच
उस आवाज़ की पहचान करो
जिसमें धड़कन है।

आँख भर देखो उस उलझी बस्ती को
उकताहट में अकारथ मत चीखो,

बेहतर होगा—
अगर चरस और चूल्हे के
धुएँ में फ़र्क करना सीखो!

घूमता पहिया

सूरज उगता है
चढ़ता है
ढलकर अस्त होता है—
कारवाँ बनता है
बढ़ता है
थककर पस्त होता है,

हवा में गूँजता है
घूमते पहिये का सहमा शोर
जख्मी देह पर फिर झेलता
बेचारगी का बोझ
वह हाँफता फिरता है
धुँधले आसरे की दौड़ में।

भरी दोपहर में
तपी हुई सड़क पर
नंगे पाँव
अपनी पीठ पर लादे
व्यथा की सिल्लियाँ
कल्पनाओं में खुले आकाश का
विस्तार :

बिछौना बाँह का आधार
आँगन में गूँजती किलकारियाँ—
वह भटकता फिरता है
गली-दर-शहर में अविराम
वक्त के इस छोर से उस छोर तक
ऊबड़-खाबड़ रास्तों की
खाक़ छानता है!

पाता है बदले में
आधी भूख
फटी उतरन
बेरंग फीकी खोखली मुस्कानें
खुले चौरास्तों पर डोलती फटकार
आदिम गालियाँ,
सपनों में बसता सड़क से
बेदखली का खौफ—
बिखरती सरकंडे की झोंपड़ी
भारी वाहनों के बीच
फँसी हर साँस—
सड़क पर पग धरने के कायदे!

वह हड़बड़ाकर उठ खड़ा होता है
कच्ची नींद में—
मुँह-अँधेरे
निकल पड़ता है पहिये का थामे साथ
सारी रात दिलासों का शोर
अनन्तर गूँजता रहता है
सोए शहर के विस्तार में!

अँधेरे रास्तों पर

अँधेरे रास्तों पर
बिछी हुई बारूद
और आशंकाओं के बीच से
बचाते हुए अपने आप को
जब भी लौटता हूँ
इस शोक में डूबे शहर की ओर
अक्सर सुनता हूँ
घने कोहरे और आतंक में
सहमी तुम्हारी सिसकियाँ
दरवाजे की ओट में
अटकी तुम्हारी आँख!

इन टूटकर गिरते
सुरों की संधियों के बीच
आखिर किस तरह साधोगी
अपनी साँस का संगीत
किस तरह बदलोगी
अपनी बेबसी की बंदिशें—
न अब कहने को वैसे किस्से हैं
न ही सुनने को सुरीले साज
फ़कत् एक धीमी-सी धड़कन है

जर्जर समय के सीने में
और उम्मीदों के नाम पर
पसरा हुआ लयहीन
बियाबान—

न जाने किस सरगम की आस में
उड़कर आसमान से बतियाने लगती हो
भोली और बड़बोली रेत की मानिन्द
और जड़ों से कट जाने के बाद
फिर औंधे-मुँह गिरती हो आकर
घाटियों की गोद में!

यह जमीन
जो सबको खड़े रहने का
आधार देती है,
सूरज
एक-सी देता है
सब को ऊर्जा,
हवा और पानी का
सभी से एक-सा बरताव
फिर कहाँ से शुरू हो गई
मेरी-तेरी की मिल्कियत
किस कायदे के तौर
आरंभ हो गया
किस्सों का कारोबार
आखिर किस बिना पर
बाँध ली हमने
जमाने भर की रंजिशें?

रात का तीसरा पहर

सुदूर पश्चिम में
डूबते हुए चाँद की
धीमी पड़ती रौशनी में
सितारों की कानाफूसी बढ़ रही है,
दक्षिण दिशा के आधे आकाश पर
बिच्छू ने कब्जा कर लिया है,
पीछा करते अहेरी से त्रस्त
हरिणियाँ बेतहाशा भाग रही हैं—
बच्चे पीछे छूट रहे हैं,
        निष्काम भाव से चल रहा है
                सप्तर्षि-संवाद—
काले आसमान पर छितरे सितारे
मौन और गुमसुम खड़े हैं,
खो गए हैं शून्य में सीमान्त
दबी संभावनाओं के लिए संकेत
फिर सो गए हैं लोग
            गहरी नींद में!

जो जानते हैं
रात का बदला हुआ बरताव
पहर-दर-संधियों को लाँघता विस्तार

ये ऐसे में सो नहीं पाते,
उलटते-पलटते रहते हैं
अपने अनुभवों की राख—
परस्पर सेकते रहते हैं
करकती-दुखती पेशानियाँ,

जिनके जोड़ों और पुट्ठों में
दहकती जागती है आग
सख़्त पड़ती शिराओं में
एक आकारहीन टीस
निकास का रास्ता ढूँढ़ रही है!

चट्टानों के बीच
रुका हुआ जल ढूँढ़ता है राह
अधबुझे अलाव से
फिर कोई चिनगारी चिटखती है,
लौट आते हैं ये
उसी अलाव के इर्द-गिर्द
आश्वस्त-से होते हैं
जागती इच्छा से!

करवट बदलकर सो रहा है
सुर्खियों में जागता विश्वास
खुदगर्ज इरादों की तरह देती रात
अब तीसरे पहर को लाँघ गई है!

ऐसे हालात में

होने को तो कुछ भी हो सकता है—

आप अच्छे-खासे लौट रहे हों
दफ्तर की बोझिल दुनिया से
बाबू दीनानाथ—
और बस्ती में दाखिल होते-न-होते
दीख जाय धू-धूकर जलता आसमान,

बीमार पिता को दवा पिलाकर
थके-हारे अस्पताल से लौट रहे हों
चालक पृथ्वीपाल,
और चौराहे पर घेर लिये जाएँ
आग की लपटों में—

ऐसी अनजानी-अनहोनी दुनिया में
कहिये, आप क्या कर लेंगे बाबू अख़्तर ईमान—
आप कर ही क्या सकते हैं
इन हालात में!

आते हैं—
ऐसे अवसर भी आते हैं
जब करने के नाम पर कुछ नहीं होता
फिर भी कुछ बेहतर

और बताने लायक करने की
इच्छा तो रखता है आखिर आदमी!

आदमी लाँघ सकता है
ऊँची अवरोधी दीवारें
फैलकर बहती नदी की धार
दीठ के विस्तार तक फैली
थकाती दूरियाँ
काटकर आ सकता है
धर्म, भाषा, जात-पांत के
उलझे कंटीले जाल—

और न सही आसान
मगर एक कल्पना तो है
जो जागती है
थके हुए आदमी के
दरकते ईमान में....

गुजारे के लिए

साल-दर-साल
सहते बेदखली   बेगार
            कुदरत की मार
हम हार खाकर चले आए
धुआँ उगलती चिमनियों की ओर
और खो गए असहाय
इस बहरे शहर के शोर में!

शहर, जो गुमनाम अँधेरे में
एक झिलमिलाते हुए सपने की तरह
उगा था हमारी इच्छाओं के बीच—
एक गूँगे अवसाद की तरह
शामिल है   जीने के
            सालते संताप में!

अपने होने और बने रहने की
आदिम आकुलता के बीच
जाने किस आसमान की खोज में
हम निकल आए इस महानगर की
ऊँची और आकाशभेदी
मीनारों के बीच और
अनचाहे शामिल हैं
इसके हिंसक कारोबार में!

जाने क्यों एतबार नहीं कर पाए
अपनी ही जानी बात पर
कि गुजारे के लिए
दरअसल जरूरत आकाश की नहीं
पाँव टिकाने भर ज़मीन की होती है,
कि ज़मीन से बेदखल आदमी का
कोई आकाश नहीं होता—

बेचैन देह से जुड़े
फ़क़त् दो हाथ होते हैं—
ज़माने भर की ठोकरों से ज़ख्मी
भटकते पाँव होते हैं,
जिन्हें धरती और आकाश का
महज अनुमान होता है—
धुरी पर रह सके कायम
वह ईमान नहीं होता!

आदमी के हाथ

इतने वहशी
और बर्बर
कैसे हो उठते हैं आखिर
आदमी के हाथ
कैसे मार लेते हैं
अपने भीतर का आदमी?

हाथ—
जो गिरते को सहारा देते हैं,
हाथ—
जो डूबते असहाय को
किनारा देते हैं,
हाथ—
जो सुहागन की माँग में
पूरते हैं सिंदूर,
हाथ—
जो हजारों की हिफाजत में
अपने को होम देते हैं!

जिनके ईमान पर
टिका हुआ है आसमान
जिनके दीन पर

टिकी हुई है दुनिया,
जिसकी अँगुली को थाम कर
उठ खड़ी होती है
एक पूरी की पूरी कौम,
उस कौमियत की कोख में पलते
माटी की गंध में खिलते
सयाने हाथ—
आखिर कैसे उजाड़ लेते हैं
अपने ही आँगन की शान्ति
सुख-चैन,
कैसे जख्मी कर लेते हैं
अपनी ही देह को
और फिर रोमांचित होते हैं
अपने ही रिसते घावों से!

यह सभ्यता के
किस भयानक दौर में
आखिर पहुँचते जा रहे हैं हम
जहाँ आदमी-दर-आदमी की मौत
महज एक सूचना है
सुबह के अखबार की!

धमाकों से थरथरा उठती है
धरती की कोख—
यह किस तरह की
आत्मघाती आग में
घिरता-झुलसता जा रहा है
आदमी!

आदमी के हाथ
जो बंजर में
फूल खिलाते हैं
लहलहाते—झूमते—फलते
हजारों किस्म के
दिक्कालजीवी पेड़
आदमी के हाथ का
आशीष पाते हैं!

आज वही खुरपी सम्हाले हाथ
जब बढ़ते हैं आगे
    जड़ों की ओर
पौधों की रूह काँपती है!

आखिर किस तरह की
हविश और हैवानियत में
मुब्तिला हैं आदमी के हाथ
    क्या वाकई जिन्दा है
    इन हाथों के पीछे आदमी?

सहने की सरहदें

यहाँ कोसों दूर तक
इतने बड़े भू-भाग में
सूखा पड़ा है,

वहाँ
मीलों दूर तक
जलमग्न है धरती—
करोड़ों लोग
यों तूफान-सूखा-बाढ़ से
संत्रस्त हैं—
उजड़े पड़े हैं,
निरंतर जूझती है
हादसों से आदमी की जात—
अजानी सरहदों में कैद
सभी निस्तब्ध और सहमे खड़े हैं।

साल-दर-साल
कौम की रंगतों के नाम
बढ़ती रंजिशें
श्रेणी-भेद में कटते
हजारों हाथ
अयाचित वेदना की टीस
आखी देह में पसरी पड़ी है—

दिन बदहवासी में गुजरते हैं
और रातें कहर ढाती हैं।

किस दिशा में बाँधें अपनी दीठ
किस धुरी पर आस रक्खें
टूटते ईमान की,
आपदाओं से सदा लड़ते रहे हैं
और लड़ते जाएँगे
हर हाल में!

मुँह-अँधेरे
जब चिड़ियों की
नींद खुलती है,
ये सिसकियाँ ओट होती हैं!

सांत्वना की
न कोई दरकार
न सुख की ऊँची कामना,
एक आचरण में
ढला हुआ अभ्यास है :

शहर के जागने से पूर्व
राजमार्ग और सड़कें
साफ हो जानी चाहिएँ—
सरासर स्वच्छ रहने चाहिएँ
चौरास्ते
मैदान

नगर के ऐन-बीचो-बीच
यह चौतरफ खुलती

रियासत की रखवाली शान-
यह आला इमारत
साफ रहनी चाहिए हर हाल में!

(भले उठती रहे दुर्गंध
इमारत में कभी
घुटकर मरी
चमगादड़ों की देह से)

यह चौतरफ फैला
खुला चौगान
जिसे वे रोज आकर
साफ करते हाँफ जाते हैं—
बिना एक शब्द बोले
पोंछते हैं अहातों की धूल,
अक्सर भीतरी दुर्गंध—
जख्मी   आहतों की वेदना से
काँप जाते हैं!

सब कुछ साफ हो जाता है—
अपना भूत और भविष्य
            गाँठ का बचा-खुचा ईमान,
इमारत की मगर यह शान
मुताबिक पालिका फरमान :
बनी रहनी चाहिए हर हाल में!

इसी त्रासदी के चलते
शायद अपनी यह हालत है—
इतनी मेहनत
इतनी मर-खटनी के बाद भी

नतीजा वही फटकार
वही जलालत है!

यह दीठ के सीमान्त तक
फैला हुआ संसार
लहलहाती क्यारियों में
गूँजता संगीत
अपनी साँस का—

चिलचिलाती धूप हो
हो बेरहम बौछार खटती देह पर
जाड़े की सनसनाती रात में
हम सींचते हैं
लालसा का अंतहीन
विस्तार!

हवा में गूँजता है
बेलछी-पिपरा का हाहाकार
फटी आँखों घूरती
नारायणपुर की नारियाँ,
सैकड़ों कोस धधकता है
आग में दोआब—
उत्तर से दक्षिण तक दहकते
एक-से अंगार हैं—

आधे जले—
पूरे जल कर ख़ाक हो गए,
फिर उसी ख़ाक से उठकर
खड़े हो गए ख़ाक़सार
जिस्म के हिज़्जे कर दिए

फैंक दिया धू-धूकर जलती आग में
फिर उसी आग से
निकलकर आ गए
ये अगिनिखोर!

जितना बुहारते-संवारते हैं
धरती का आँचल,
नगर के चौराहे गलियाँ
लहलहाते खेत
और खलिहान
उनकी इच्छाओं का
अंतहीन आकाश,
उतना ही बदरंग
और बदबूदार हुआ जाता है
उनके दावेदारों का आचरण—

चौतरफ मासूम रक्त के
धब्बे ही धब्बे,
निर्दोष जनों की दारुण चीख-पुकार!

अखबारों की सारी सुर्खियाँ
पढ़ने तक बासी हो जाती हैं
कोसों आगे निकल चुका होता है
घटना-चक्र
मूर्तिवत् खड़े रह जाते हैं व्याख्याकार
जले पर नमक-से वक्तव्य :
निभाते दुनियादारी का दस्तूर!

शून्यकाल में खाली सदन में
सनसनी पैदा करते सवाल—
उनींदी गुम्बदों में गूँजती उत्तेजना—

धीरे-धीरे
बिखरने लगता है
जड़ाऊ भाषा का विन्यास
सहने की सरहदों के पार
टूटने लगती हैं
नदी को थामती हदबंदियाँ!

बूढ़े पिता का संताप

एक अनजान शहर में
उदास बीबी और अबोध बच्चों के साथ
बिताते हुए ये एकाकी दिन
मुझे हरवक्त कुरेदता रहता है
उनका वह भीतरी संताप :

पीढ़ी-दर-पीढ़ी
एक भरे-पूरे कुनबे का
एक-एक कर बिखरते जाना,
बरसों बाद
ब्याह-सगाई-जनम-मरण के अवसरों पर
मन-रीते मिलना—
रीसने-रोने और परस्पर कोसने के
अनवरत अभ्यास में!

फिर उसी रीत में
बिखर जाना
दुलारों का बीज की मानिन्द
और असहाय पिता का
रात-रात भर सो नहीं पाना—

सीने में बजती बलगम
और आंतों में अटकी साँस को

सम्हाले रखने का
जी-तोड़ जतन करना—
धड़कते हुए कलेजे में
संजोए रखना
एक अदद कुँआरी बेटी का अवसाद
और गुजारे की तलाश में
परदेस गए दुलारों का
बेचैन बैठे इंतजार करना!

जब से सुना है
लोग ऊँची कमाई की आस में
भेज दिया करते हैं
अपने जवान होते बेटों को
सात समंदर पार
जो कभी पलट कर लौट नहीं पाते
अपनों के बीच
फिर उसी संताप में
डूब जाते हैं
हम बेकाम सपूतों के
बूढ़े नेक और नरमदिल पिता!

सहोदर से संवाद

बड़े भाई
अक्सर मिलने पर
अफसोस करते हैं :

इससे तो अच्छा था
तू यह न होकर वह होता,
ऐसे और इस तरह
सध जाते सारे काम
फलां की तरह
चार लोगों में नाम होता,
खुलवा देते छुटके को
कोई छोटा-मोटा-सा कारोबार
अच्छा खाता-कमाता—
घर के धंधे में
कितनी बरकत होती है!

कौन पूछता है
तेरे इस नेक और हमदर्द होने को
उल्टे हमीं को लगी रहती है
तेरे बिसूरते भाग की चिन्ता....

मैंने समझाना चाहा :
आप बेकार परेशान होते हैं
बड़े भाई—

मैं यहाँ होता या वहाँ
जहाँ भी होता
ऐसा ही होता,
कैसे हो पाता
उन कामयाब लोगों की तरह
चौकस और दुनियादार
हर आदमी के होने की
अपनी तासीर होती है,
अपने हाथों रचा हुआ संसार....

वे झुँझलाकर कहते हैं :
तुझे क्या मालूम
कैसे रचाया जाता है
इस हरामी दुनिया में
अपनी इच्छा का संसार
किसे कहते हैं ईमान
दुनियादारी
कैसे कैसे बनते हैं
दुनिया में काबिल लोग—

पूछ उन्हीं की होती है
जिनके पास होती है
इफरात पूंजी,
खरे पसीने की कमाई
तो महज एक मुहावरा है
बीते जमाने का!

मैं चिन्तित और हैरान हूँ—
कितनी आसानी और

बिना किसी संकोच के
नेकी और ईमान से इतनी दूर
बेरोक
दुनियादारी के दलदल में
उतर जाते हैं मेरे सहोदर
जहाँ से आगे नहीं दीख पड़ती
कोई संवाद की संभावना!

मैं महज इतना भर पूछ पाता हूँ :

मेरी तो छोड़ें भाईजान
अपनी पर गौर करें—
क्या बनाना चाहेंगे
अपने छुटके को आखिर आप—

आखिर अपने लाड़ले से
किस तरह की दुनिया में
मिलना चाहेंगे लौटकर?

जो टूट गया है भीतर

एक अवयव टूटकर बिखर गया है कहीं भीतर
लहूलुहान-सा हो गया है मेरा अंत:करण
पीड़ा व्यक्त होने की सीमा तक,
आकर ठहर गई है।
कुछ देर और इसी तरह मुस्कुराते रहना है मुझे
इसी सयानी दुनिया में निस्संग
सहज ही बने रहना है
सफर में, बाकी बरस कुछ और।

क्या फर्क पड़ता है नदी की शान में,
कितना बदल गया है मेरा अहसास
किसे परवाह!

क्यों पीली पड़ गई दीखती हैं
भरी दोपहर में दरख़्तों की हरी पत्तियाँ
सड़कों पर दूर तक दहशत
और दरारें निकल आई हैं परकोटे की भींत में
सहम गई हैं उजड़े हुए किले की पुरानी दीवारें
कहीं भूकम्प आने को है शायद
समय के गर्भ में।

यह दृश्य इतना बेरंग तो नहीं दीखा था कभी
इतनी हताश तो नहीं दीखी थी

चाँद और सूरज की रौशनी,
नदी उलटकर लौटने लगी है
अपने ही उद्‌गम की ओर।
धुआँ आसमान से उतर कर
समाने लगा है चिमनी की कोख में।

अपनी उड़ान को बीच ही में समेटकर
उतर आए हैं असंख्य पक्षी
इस सूखे बंजर ताल में,

तुम क्यों उदास होती हो मूर-हेन!
तुम्हें तो मिल ही जाएगी
अपने हिस्से की दूब
—हरी संवेदना,

मुँह-अँधेरे उड़ जाना उगते सूरज की सीध
पलटकर नहीं देखना,
इस उजाड़ बंजर को आँख भर।

तुम किस-किस के लिए करोगी पछतावे
किसके आहत होने का रखोगी ख़याल
इस बदलती दुनिया में,

जो टूट गया है अवयव
किसी के भीतर, उसे उबरकर आने दो
अपनी ही आत्म-पीड़ा से ऊपर,
सहने दो बंदी को अपने हिस्से का अवसाद
चुन लेने दो जीए हुए अनुभव का कोई अंश
शायद बच रहा हो कहीं एक संकल्प
—शेष संभावना!

अपना चेहरा

इस धुएँ के पार
वहाँ एक चेहरा है
शायद अपना,

अपने से अलग हो गए
चेहरे की तलाश में
मैं बहुत दूर निकल आया हूँ
इस सूने बियाबान में—

ये दरख्त ये पगडंडियाँ
पहली ही बार देख रहा हूँ मैं,

इन परिधियों के पार
किसी और लोक के होने की
परिकल्पना
अब भी सुरक्षित है
मेरी मौन उमंगों में—

अभी इस पहाड़ को चीरकर
आएगी नन्हीं रेल,

उसी के किसी एक कोने में
मिल जाएगी मुझे
अपनी खोई हुई पहचान
शाम होने से पहले
हम लौट आएँगे
फिर इसी गुदले मौसम की
ठंडी रेत पर!

पहला टकराव

पहला टकराव तो वहीं से होता है
जहाँ से मिली होती है टकराने की सीख
एक बनते हुए सुभाव से बाहर निकली हुई
भाषा की आँच से बचाकर रखना अपना धैर्य
आसान तो नहीं होता
जितना दीखता है आँख में पाबंद
नीला आसमान!

पत्थर के पास

पत्थर के पास
कुछ नहीं होता बयान करने को
पत्थर हो जाने के बाद—
फिर वह पारस हो
या मरमरी मूरत का आकार!

और यों ही तो नहीं हो जाता
कोई पत्थर—
उस रासायनिक प्रक्रिया के घोल में
क्या नहीं दिखाई देते तुम्हें
पथरा गई उस आग के अवशेष?
उसकी ठोस संरचना में ढली
द्रव्य की तरलता,
चोट खाकर बिखरते आकार में
क्या नहीं सुनाई देता तुम्हें
उस दबे हुए पर्यावरण का आर्तनाद
जिसके बीच आज भी बना हुआ है
वह पत्थर!

कभी ज़मीन तो कभी

आकाश साफ था हमेशा की तरह
उस सुबह की शुरुआत में
फिर उभर आई दृश्य में अचानक
गोताखोर विमानों की
हैरतअंगेज कलाबाजियाँ—
कभी ज़मीन तो कभी
आसमान से आसमान में मार करती
अचूक निशानेबाजियाँ।

गूँजता रहा देर तक
निर्जन धरती का धूसर आकाश,
रहवासी अरसा पहले निकल चुके थे दूर
निरापद ठिकानों की खोज में,
अबोले दरख्त और झाड़ियाँ
आखिर कहाँ जाते
अपनी ज़मीन को छोड़कर।

आयोजन स्थल पर जुटाए गए
सैनिक, अधिकारी, मंत्रीगण
मीडिया के अनुभवी मेहमान—
दरसाव के अनुकूल मौके पर
देर तक तकरीर करते रहे
महामहिम :

'कि अहिंसा के पुजारी हैं हम,
कि नहीं चाहते किसी से भी तकरार
गो कि मुकाबले के लिए हर समय
तैयार रहती हैं हमारी शान्तिप्रिय सेनाएँ—
जल, थल और आकाश में कहीं भी
आजमाया जा सकता है हमारा पराक्रम,
कि इधर के आणविक अभियान
साक्षी हैं हमारी निरस्त्रीकरण की निष्ठा के!'

पूरी तकरीर के दौरान
दर्प से दमकता रहा
माननीय होम मिनिस्टर का चेहरा
और बदलते रहे हर बार
दृश्यों के बोलते आशय।

गर्वीली गर्जना के साथ
आसमान में धमकते रहे
प्रहारक क्षमता वाले अनगिनत
लड़ाकू विमान और आतिशबाजियाँ—
बरसती रही आग,

धू-धूकर जलते रहे
घास के छप्पर सूनी ढाणियाँ
उड़ते रहे मासूम परिन्दों के पंख
दृश्य के बाहर और बेसूद,
बच्चे झिझकते रहे
कच्ची नींद में।

हलके में कई दिनों तक
छाया रहा अजीब-सा सन्नाटा

बजती रहीं हवाएँ साँय साँय
टी०वी० पर आते रहे दरसाव—
अंतराल में दिखाए जाते रहे
भाव-प्रवण मुद्रा में रीझते आगीवान
दर्प से दमकते चेहरे
अनूठी आतिशबाजियाँ,

मुख्य समाचारों में
दोहराए जाते रहे
शान्ति, शौर्य और शोक के संदेश
—एक अध-बना आख्यान,
कभी जमीन तो कभी
आसमान में सिरे खोजतीं
बांझ निशानेबाजियाँ!

अपना आपा

आकाश ऐन हमारे सिर पर होता है या हम ही होते हैं
आकाश पर सवार सिर के बल, पाँवों पर उठाए हुए धरती।
जब भी निकलते हैं पैदल, किसी दिशा-दीठ की खोज में—
किसी सड़क, पगडंडी या बिना किसी तयशुदा रास्ते का सिरा
दाबते हुए अपनी पगथलियों के नीचे। अहिंसा, सौहार्द्र और
लोकतंत्र में अपनी अटूट आस्था के बावजूद हम दावे के साथ
नहीं कह सकते कि अनजाने ही सही; असंख्य जीवों के दबकर
मारे जाने में हमारी कोई भूमिका नहीं—कि हत्यारे नहीं हैं हम।

अपने लिए एक अनुकूल आचार-संहिता गढ़ लेने के बाद
यह देखने की फुरसत किसे होती है कि वह किन अन्य का
उल्लंघन करती है बार-बार। कि अपनी धारा का मार्ग बनाते
कितने रास्तों और पगडंडियों को लील जाती है
अपनी प्रभुता के आवेश में।

इस जीवन-चक्र में कौन, कहाँ, कब पैदा हुआ और
किस मकसद को लेकर निकला था सृष्टि की कोख से, या कि
सृष्टि ने ही एक स्वचालित इकाई के आकार में उतार दिया था उसे
खुरदुरे धरातल पर आदमजाद, सिर्फ रीढ़ के बल अपने पैरों पर

उठ खड़े होने और विरोधों के बीच सामंजस्य बिठा लेने का
जिम्मा थामकर, उसने हटा लिये थे हाथ कि इकाई सम्हाल लेगी
अपना आपा आप, कि अपनी साख और सलामती के वास्ते
वह स्वीकार लेगी अन्यों का भी आपा और आधार!



पिछले फ्लैप से आगे

हस्तक्षेप करती है—'चौतरफा/मासूम रक्त के धब्बे ही धब्बे/निर्दोष जनों की दारुण चीख-पुकार' या कि 'इतने वहशी/और बर्बर/कैसे हो उठते हैं आखिर आदमी के हाथ/कैसे मार लेते हैं/अपने भीतर का आदमी!'

नन्द भारद्वाज मूलतः करुणा और प्रेम के कवि हैं। उनकी कविताओं में इन दोनों मानवीय भावों की अजस्र धारा निनादित है। यह तभी संभव होता है, जब आप अपनी धरती, अपने जनपद और वहाँ के संघर्षरत लोक-जीवन को पूरी शिद्दत से प्यार करने का माद्दा रखते हैं। प्रेम करने की यह ताकत एक साधारण जन की जिस तरह पूँजी है, वैसी ही कवि की हो, यह जरूरी नहीं, किन्तु नन्द भारद्वाज इसके अपवाद हैं। प्रेम की अविस्मरणीय कविताओं की एक पूरी शृंखला इस संग्रह की विशेष ताकत है। ऐसे ही विलक्षण अदेखे दृश्यों की ताकत से लैस कितनी ही कविताएँ हैं जो इस संग्रह को उल्लेखनीय बनाती हैं। सिर्फ एक उदाहरण—'पारसाल हमने जाड़े की वो सनसनाती रातें/जिनमें उल्लुओं तक ने खामोशी अख्तियार ली थी/उसी खलिहान पर/फटी गुदड़ी में लिपटे/आगामी अच्छे दिनों की आस में/बातें करते/हँसते/खिलकते गुजार दी थीं' (आग की गरज)। इसी क्रम में बड़े फलक पर प्रकृति और प्रेम की कविताएँ यथा—'बस्ती का पेड़', 'हरी दूब का सपना', 'अपने बच्चे से', 'कहीं तो होंगे अभयारण्य', 'उसकी स्मृतियों में', 'तुम्हारी याद', 'घर तुम्हारी छाँव में', 'यकीन करोगी', 'छोटी-सी जलधार', 'बूढ़े पिता का संताप', 'सहोदर से संवाद' को पढ़कर पाठक आश्चर्य से भर उठेंगे।

नन्द भारद्वाज की ये कविताएँ निश्चय ही गहरे संयम और धैर्य के अलावा आत्मीयता से पाठ की माँग करती हैं।

—लीलाधर मंडलोई